मानवीय संस्कृति के उन्नायक तीर्थंकर ऋषभदेव के जन्म कल्याणक पर प्रासंगिक आलेख

https://www.jain24.com/jainism/relevant-article-on-the-janm-kalyanak-of-tirthankar-rishabhdev/

Mar 17, 2020

अपनी पुत्रियों को शिक्षा देते ऋषभदेव

भगवान ऋषभदेव जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर हैं उनका जन्म चैत्र कृष्ण नवमी को अयोध्या में हुआ था, वहीं माघ कृष्ण चतुर्दशी को इनका निर्वाण कैलाश पर्वत पर हुआ। इन्हें आदिनाथ के नाम से भी जाना जाता है। इनके पिता का नाम नाभिराय तथा माता का नाम मरुदेवी था। ऋषभदेव प्रागैतिहासिक काल के महापुरुष हैं, जिन्हें इतिहास काल की सीमाओं में नहीं बांध पाता। किंतु वे आज भी संपूर्ण भारतीयता की स्मृति में पूर्णत: सुरक्षित हैं।ऋग्वेद आदि प्राचीन वैदिक साहित्य में भी इनका आदर के साथ संस्तवन किया गया है। जैन परंपरा और अनेक ऐतिहासिक तथ्य का मानना है कि इन्हीं प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम से इस देश का नामकरण 'भारतवर्ष' इन्हीं की प्रसिद्धि के कारण विख्यात हुआ।

तीर्थंकर ऋषभदेव भारतीय संस्कृति के आद्य प्रणेता माने जाते हैं। वेदों, उपनिषदों और पुराणों में समागत उनके उल्लेख यह कहने के लिए पर्याप्त हैं कि ऐसे महापुरूष थे जिन्होंने मानव समुदाय को कृषि, लेखन, व्यापार, शिल्प, युद्ध और विद्या की शिक्षा दी। किसी भी व्यक्ति और समुदाय के लिए इन प्रकल्पों की

शिक्षायें आगे बढ़ाने के लिए अनिवार्य होती हैं।
प्रतिवर्ष ऋषभदेव जन्म कल्याणक जैन समुदाय में हर्ष, उल्लास के साथ श्रद्धा पूर्वक मनाया जात है। इस दिन जैनधर्म के आदि प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव (आदिनाथ) का जन्म हुआ था। जैन परम्परा में मान्य चैबीस तीर्थंकरों की श्रृखंला में भगवान ऋषभदेव का नाम प्रथम स्थान पर एवं अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी हैं। विश्व के प्राचीनतम लिपिबद्ध धर्म ग्रंथों में से एक वेद में तथा श्रीमद्भागवत इत्यादि में आये भगवान ऋषभदेव के उल्लेख तथा विश्व की लगभग समस्त संस्कृतियों में ऋषभदेव की किसी न किसी रूप में उपस्थिति जैनधर्म की प्राचीनता और भगवान ऋषभदेव की सर्वमान्य स्थिति को व्यक्त करती है।

हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त मूर्तियों को पुरातत्व विभाग ने ऋषभदेव की मूर्तियां बताया है। भारत के राष्ट्रपति एवं प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ राधाकृष्णन ने अपने भारतीय दर्शन के इतिहास में लिखा है कि "जैन परंपरा ऋषभदेव से अपनी उत्पत्ति का कथन करती है जो बहुत सी शताब्दियों के पूर्व हुए हैं

"। महाभारत के अनुशासन पर्व में भी ऋषभदेव का नाम आया है। वैदिक साहित्य में भगवान ऋषभदेव को जैन धर्म का आदि प्रवर्तक माना गया है। डॉ एन एन बसु ने सिद्ध किया है कि लेखन कला और ब्राह्मी विद्या का आविष्कार ऋषभदेव ने किया था। विभिन्न साक्ष्यों द्वारा यह पुष्टि हो जाती है कि ऋषभदेव भारतीय संस्कृति के प्रथम वरिष्ठ महापुरुष थे। मानवीय गुणों के विकास की सभी सीमाएं ऋषभदेव ने उद्घाटित की ।

जैन परंपरा के अनुसार तीर्थंकर ऋषभदेव ने कृषि का सूत्रपात किया। अनेकानेक शिल्पों की अवधारणा की। कृषि और उद्योग में अद्भुत सामंजस्य स्थापित किया कि धरती पर स्वर्ग उतर आया। कर्मयोग की वह रसधारा बही कि उजड़ते और वीरान होते जन जीवन में सब ओर नव बंसत खिल उठा। जनता ने अपना स्वामी उन्हेंे माना और धीरे-धीरे बदलते हुए समय के अनुसार वर्ण व्यवस्था, दण्ड व्यवस्था, विवाह आदि सामाजिक व्यवस्था का निर्माण हुआ।

ऋषभदेव ने महिला साक्षरता तथा स्त्री समानता पर भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। अपनी दोनों पुत्रियों को ब्राह्मी को अक्षर ज्ञान के साथ साथ व्याकरण, छंद, अलंकार, रूपक, उपमा आदि के साथ स्त्रियोचित अनेक गुणों के ज्ञान से अलंकृत किया।लिपि विद्या को ऋषभदेव ने विशेष रूप से ब्राह्मी को सिखाया। इसी के आधार पर उस लिपि का नाम ब्राह्मी लिपी पड़ गया। ब्राह्मी लिपी विश्व की आद्य लिपी है। दूसरी पुत्री सुंदरी को अंकगणतीय ज्ञान से पुरस्कृत किया। आज भी उनके द्वार निर्मित व्याकरणशास्त्र तथा गणितिय सिद्धांतो ने महानतम ग्रंथों में स्थान प्राप्त किया है।

तीर्थंकर ऋषभदेव ने भारतीय संस्कृति के लिए जो अवदान दिया वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसे जैन ही नहीं जैनेतर भारतीय परंपरा में आज भी कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करती है और युगों तक करती रहेगी। भगवान ऋषभदेव ने भारतीय संस्कृति को जो कुछ दिया है उसमें असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मों के द्वारा जहां समाज को विकास का मार्ग सुझाया वहीं अहिंसा, संयम, तप तथा त्याग के उपदेश द्वारा समाज की आंतरिक चेतना को भी जगाया।
तीर्थंकर ऋषभदेव ने जीवन के समग्र विकास के लिए समाज को समुन्नत नवीन अचार संहिता दी। सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए तीर्थंकर ऋषभदेव ने कहा कि व्यक्ति दूसरे के सहारे की अपेक्षा ना करके स्वयं मर्यादित एवं कर्तव्य परायण बने । इस मर्यादा व कर्तव्य परायणता के लिए उन्होंने पांच व्रतों की व्याख्या की । अहिंसा और सत्य द्वारा वाणी के प्रयोग में स्वयं मर्यादित बने तथा समस्याओं की

सच्चाई तक पहुंचकर स्वयं समाधान खोजें। अचौर्य के द्वारा सादा- सरल जीवन जिएं। ब्रह्मचर्यके द्वारा वासनाओं से मुक्त हों। अपरिग्रह द्वारा लोभ का संवरण करें।

भारतीय संस्कृति के प्रणेता एवं जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की जनकल्याणकारी शिक्षा द्वारा प्रतिपादित जीवन-शैली, आज के चुनौती भरे माहौल में उनके सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों की प्रासंगिकता है। तीर्थंकर ऋषभदेव अध्यात्म विद्या के भी जनक रहे हैं। आज मानवता के सम्मुख भौतिकवादी चुनौतियों के कारण नाना प्रकार के सामाजिक एवं मानसिक तनाव तथा संकट व्यक्तिगत, सामाजिक एवं भूमण्डल स्तर पर दृष्टिगोचर हो रहे हैं। भगवान ऋषभदेव द्वारा बताई गई जीवन शैली की हमारी सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था में काफी प्रासंगिकता एवं महत्ता है। उनके द्वारा प्रतिपादित ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न क्षेत्रों में ऐसी झलकियां मिलती हैं जिन्हें रेखांकित करके हम अपने सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन की गुणवत्ता को बढ़ा सकते हैं।

जैन संस्कृति के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन एवं श्रमण एवं वैदिक वाङ्मय में तो हुआ ही है, कला में भी उनका उल्लेख प्राचीनकाल से होता आया है। ऋषभदेव की प्राचीनतम मूर्तियां कुषाणकाल और चौसा से मिली हैं। ऋषभदेव की गुप्तकालीन मूर्तियां मथुरा, चौसा एवं अकोटा से मिली हैं। ऋषभदेव की सर्वाधिक मूर्तियां उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में उत्कीर्ण हुई हैं। मुख्यरूप से मथुरा, कुंडलपुर, लखनऊ, नवागढ़, ग्वालियर, खजुराहो, गोलाकोट, बूढ़ी चंदेरी, शहडोल, गुना आदि स्थानों की ऋषभदेव प्रतिमाएं मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। बिहार, उड़ीसा और बंगाल में भी अनेक महत्वपूर्ण मूर्तियां प्राप्त होती हैं।

जैन भक्ति साहित्य में भगवान ऋषभदेव की भक्ति सर्वप्रथम की जाती है। उनकी भक्ति में स्वतंत्र रूप से काव्य, पुराण, स्तोत्र, पूजाएँ आदि बड़ी मात्रा में लिखे गए हैं। सातवीं शताब्दी में मुनिराज मानतुंग आचार्य ने भक्तामर स्तोत्र द्वारा भगवान ऋषभदेव का महान महत्वशील स्तवन भक्ति की है आज जन-जन इससे विदित है।

भगवान ऋषभदेव के समतामूलक आचार- -विचार -व्यवहार ने भारतीय मनीषा को बहुत प्रभावित किया है। इस समतामय आचार- -विचार -व्यवहार में प्राणी मात्र का कल्याण निहित है। समत्व की पहली सीढ़ी अहिंसा है। समस्त प्राणियों के साथ सद- व्यवहार एवं स्व- के विचारों का परिष्कार, आविष्कार ही अहिंसा है । "आत्मवत सर्वभूतेषु" का आचरण क्रिया- कर्म हमारे जीवन में उद्घाटित हो जाएं तो हिंसा, असत्य, चोरी, क्रोध, लोभ, भय, मान, ईर्ष्या, छल, कपट, वैमनस्य, विषमता इत्यादि प्रवृतियां हमारे जीवन में समाहित हो ही नहीं सकती।

श्रीमद्भागवत महापुराण- स्कन्ध: 5 अध्याय: 1-5

स्वायम्भुव मनु और शतरूपा की संतानें दो पुत्र और तीन पुत्रियाँ थीं। उनके पुत्रों में प्रियव्रत और उत्तानपाद (जिनके पुत्र ध्रुव थे) शामिल हैं। तीन पुत्रियों में आकूति, देवहूति और प्रसूति थीं। आकूति

का विवाह ऋषि रुचि से हुआ, जिनसे साक्षात् 'यज्ञ' स्वरूपधारी भगवान विष्णु और लक्ष्मीजी की अंशस्वरूपा ‘दक्षिणा’ की उत्पत्ति हुई। देवहूति का विवाह कर्दम ऋषि से हुआ, और उनके पुत्र भगवान कपिल थे, जिन्होंने सांख्य दर्शन की शिक्षा दी। प्रसूति का विवाह दक्ष प्रजापति से हुआ, जिनसे सती की उत्पत्ति हुई।

मनु पुत्र प्रियव्रत का वंश

राजा परीक्षित ने शुकदेव से पूछा कि महाराज प्रियव्रत जैसे भगवद्भक्त और आत्माराम गृहस्थाश्रम में कैसे प्रवृत्त हुए, जो आत्मस्वरूप की विस्मृति और कर्मबंधन का कारण बनता है? यह समझ पाना कठिन है कि उन्होंने स्त्री, परिवार और राज्य में रहते हुए भी सिद्धि और भगवान श्रीकृष्ण में अविचल भक्ति कैसे प्राप्त की। श्रीशुकदेवजी ने उत्तर दिया कि प्रियव्रत बचपन से ही भगवान वासुदेव के चरणों में समर्पित थे। नारदजी के सत्संग और शिक्षा से उन्हें परमार्थतत्त्व का ज्ञान हुआ। उनके पिता स्वायम्भुव मनु ने उन्हें राज्य के पालन की आज्ञा दी परंतु प्रियव्रत इसे स्वीकार नहीं करना चाहते थे, क्योंकि उन्हें डर था कि राजकाज में फंसकर वे भगवत् तत्त्व भूल जाएंगे।

जब ब्रह्माजी ने देखा कि प्रियव्रत राज्य ग्रहण करने से हिचक रहे हैं, तो वे चारों वेदों और मरीचि आदि ऋषियों के साथ अपने लोक से उतरे। आकाश में इंद्र और अन्य देवता, मार्ग में सिद्ध, गंधर्व, साध्य, चारण और मुनि समूह बनाकर उनकी स्तुति कर रहे थे। इस प्रकार आदर-सम्मान पाते हुए प्रियव्रत के पास पहुंचे। वहां नारदजी भी उपस्थित थे। ब्रह्माजी ने प्रियव्रत से कहा, "पुत्र! मैं तुम्हें सत्य सिद्धांत बताता हूँ। श्रीहरि के विधान को कोई भी टाल नहीं सकता—न मैं, न महादेवजी, न तुम्हारे पिता स्वायम्भुव मनु, और न तुम्हारे गुरु नारदजी। उनका आदेश सभी को मानना पड़ता है। शरीर, कर्म, और सुख-दुःख भी उन्हीं की व्यवस्था से चलते हैं। जैसे रस्सी से बंधा पशु बोझ ढोता है, वैसे ही हम सभी उनके विधान से बंधे हैं। मुक्त पुरुष भी प्रारब्ध के अनुसार शरीर धारण करते हैं, परंतु उन्हें विषयवासनाओं का असर नहीं होता। जो व्यक्ति इन्द्रियों के वश में है, वह वन में जाकर भी जन्म-मरण के भय से मुक्त नहीं होता। लेकिन जो अपनी इन्द्रियों को जीतकर आत्मा में स्थिर होता है, उसके लिए गृहस्थ जीवन भी बाधा नहीं बनता। जैसे राजा किले में रहकर शत्रुओं को पराजित करता है, वैसे ही गृहस्थाश्रम में रहकर इन्द्रियों को वश में करना संभव है। एक बार इन्द्रियों पर विजय पा लेने के बाद व्यक्ति स्वतंत्र रूप से कहीं भी विचरण कर सकता है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि ब्रह्माजी ने प्रियव्रत से कहा, "तुमने श्रीहरि के चरणकमल का आश्रय लेकर अपने छः शत्रुओं (काम, क्रोध आदि) को जीत लिया है। फिर भी, पहले भगवान के दिए हुए भोगों को भोगो और उसके बाद निःसंग होकर अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाना।"

ब्रह्माजी के इस उपदेश को सुनकर, प्रियव्रत ने विनम्रता से सिर झुकाया और आदरपूर्वक उनकी आज्ञा को स्वीकार करते हुए कहा, "जो आज्ञा।" मनु ने ब्रह्माजी की कृपा से अपना मनोरथ पूरा होने पर देवर्षि नारदजी की आज्ञा से प्रियव्रत को समस्त भूमंडल की रक्षा का उत्तरदायित्व सौंप दिया। इसके बाद वे गृहस्थाश्रम की भोगेच्छा से निवृत्त होकर संसारी प्रपञ्च से अलग हो गए।

प्रियव्रत, जो पहले से ही भगवान के चरणकमलों का निरंतर ध्यान करते थे और जिनके राग-द्वेष जैसे सभी मल नष्ट हो चुके थे, बड़े-बुजुर्गों की आज्ञा और मान रखने के लिए भगवान की इच्छा से पृथ्वी के शासन का कार्य संभालने लगे।

तदनन्तर उन्होंने प्रजापति विश्वकर्माकी पुत्री बर्हिष्मतीसे विवाह किया। उससे उनके दस पुत्र हुए। वे सब उन्हींके समान शीलवान्, गुणी, कर्मनिष्ठ, रूपवान् और पराक्रमी थे। उनसे छोटी ऊर्जस्वती नामकी एक कन्या भी हुई। प्रियव्रत के पुत्रोंके नाम **आग्नीध्र**, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र और कवि थे। ये सब नाम अग्निके भी हैं। इनमें कवि, महावीर और सवन-ये तीन नैष्ठिक ब्रह्मचारी हुए। इन्होंने बाल्यावस्थासे आत्मविद्याका अभ्यास करते हुए अन्तमें संन्यासाश्रम ही स्वीकार किया। महाराज प्रियव्रतकी दूसरी भार्यासे उत्तम, तामस और रैवत-ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो अपने नामवाले मन्वन्तरों के अधिपति हुए। उन्होंने अपनी कन्या ऊर्जस्वतीका विवाह शुक्राचार्यजीसे किया; उसीसे शुक्रकन्या देवयानीका जन्म हुआ।

राजा प्रियव्रतने ग्यारह अर्बुद वर्षों (1.1 billion years) तक पृथ्वीका शासन किया। जब प्रियव्रत अपनी शक्तिशाली भुजाओं से धनुष की डोरी खींचकर टंकार करते, तो धर्म के शत्रु डरकर कहीं छिप जाते। प्रियव्रत साधारण व्यक्ति की तरह आत्मविस्मृत होकर संसारिक भोगों में लिप्त से दिखते थे परंतु भीतर से वे इन भोगों में आसक्त नहीं थे।

एक बार इन्होंने जब यह देखा कि भगवान सूर्य सुमेरुकी परिक्रमा करते हुए लोकालोकपर्यन्त पृथ्वीके जितने भागको आलोकित करते हैं, उसमेंसे आधा ही प्रकाशमें रहता है और आधेमें

अन्धकार छाया रहता है, तो उन्होंने इसे पसंद नहीं किया। तब उन्होंने यह संकल्प लेकर कि 'मैं रातको भी दिन बना दूंगा;' सूर्यके समान ही वेगवान् एक ज्योतिर्मय रथपर चढ़कर द्वितीय सूर्यकी ही भाँति उनके पीछे-पीछे पृथ्वीकी सात परिक्रमाएँ कर डालीं।भगवान्की उपासनासे इनका अलौकिक प्रभाव बहुत बढ़ गया था ।उस समय इनके रथके पहियोंसे जो लीकें बनीं, वे ही सात समुद्र हुए; उनसे पृथ्वीमें सात द्वीप हो गये ।

उनके नाम क्रमशः जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर द्वीप हैं। इनमेंसे पहले-पहलेकी अपेक्षा आगे-आगेके द्वीपका परिमाण दूना है और ये समुद्रके बाहरी भागमें पृथ्वीके चारों ओर फैले हुए हैं । सात समुद्र क्रमशः खारे जल, ईखके रस, मदिरा, घी, दूध, मटे और मीठे जलसे भरे हुए हैं। ये सातों द्वीपोंकी खाइयोंके समान हैं और परिमाणमें अपने भीतरवाले द्वीपके बराबर हैं। इनमेंसे एक-एक क्रमशः अलग-अलग सातों द्वीपोंको बाहरसे घेरकर स्थित हैं।

इस प्रकार अतुलनीय बल-पराक्रमसे युक्त महाराज प्रियव्रत एक बार, अपनेको देवर्षि नारदके चरणोंकी शरणमें जाकर भी पुनः दैववश प्राप्त हुए प्रपंचमें फँस जानेसे अशान्त-सा देख, मन-ही-मन विरक्त होकर इस प्रकार कहने लगे । 'ओह! बड़ा बुरा हुआ! मेरी विषयलोलुप इन्द्रियोंने मुझे इस अविद्याजनित विषम विषयरूप अन्धकूपमें गिरा दिया। बस! बस! बहुत हो लिया। हाय! मैं तो स्त्रीका क्रीडामृग ही बन गया! उसने मुझे बंदरकी भाँति नचाया! मुझे धिक्कार है! धिक्कार है!'

इस स्थिति में, भगवान की कृपा से उनका विवेक जाग्रत हुआ और उन्होंने संसार के भोगों से विरक्ति धारण की। प्रियव्रत ने अपनी सारी पृथ्वी अपने पुत्रों को बांट दी और अपनी पत्नी को राजसी वैभव के साथ छोड़ दिया। फिर उन्होंने भगवान की लीलाओं का चिंतन करते हुए नारदजी के बताए मार्ग पर चलने का संकल्प लिया।

राजा आग्नीध्र का शासन

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—पिता प्रियव्रतके इस प्रकार तपस्यामें संलग्न हो जानेपर राजा **आग्नीध्र** उनकी आज्ञाका अनुसरण करते हुए जम्बूद्वीपकी प्रजाका धर्मानुसार पुत्रवत् पालन करने लगे। एक बार आग्नीध्र ने पितृलोक की कामना से मन्दराचल के एक घाटी में तपस्या की और ब्रह्माजी की आराधना करने लगे। ब्रह्माजी ने उनकी इच्छाओं को जाना और एक अप्सरा, पूर्वचित्ति,

को भेजा, जो आग्नीध्र के आश्रम के पास के रमणीय उपवन में विचरण करने लगी। पूर्वचित्ति की सुंदरता और आकर्षण में राजा फस गए।

आग्नीध्र देवताओंके समान बुद्धिमान् और स्त्रियोंको प्रसन्न करने में बड़े कुशल थे। उन्होंने मीठी-मीठी बातोंसे उस अप्सराको प्रसन्न कर लिया। वीर-समाजमें अग्रगण्य आग्नीध्रकी बुद्धि, शील, रूप, अवस्था, लक्ष्मी और उदारतासे आकर्षित होकर वह उन जम्बूद्वीपाधिपतिके साथ कई हजार वर्षोंतक पृथ्वी और स्वर्गके भोग भोगती रही।

उनसे नौ पुत्र उत्पन्न किए, जिनके नाम नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल थे। आग्नीध्र ने जम्बूद्वीप को नौ भागों में विभाजित किया और प्रत्येक पुत्र को एक-एक भाग सौंप दिया। राजा आग्नीध्र भोगों का आनंद लेते हुए भी उनसे संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने अप्सरा पूर्वचित्ति को ही परम पुरुषार्थ माना और वैदिक कर्मों के माध्यम से पितृगणों के सुखमय लोक में पहुँचने का प्रयास किया। उनके निधन के बाद, उनके नौ पुत्रों ने मेरु पर्वत पर स्थित विभिन्न देवीयों से विवाह किया, जिनके नाम थे मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा और देववीति।

राजा नाभि का शासन

श्रीशुकदेवजी ने कहा: "आग्नीध्र के पुत्र **नाभि** अपनी पत्नी मेरुदेवी से संतान प्राप्ति की इच्छा से भगवान विष्णु की पूजा की जिससे प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिए। तब नाभि के पुरोहितों ने भगवान विष्णु की स्तुति किया और उनके लिए भगवान के समान पुत्र की कामना किया। तब भगवान ने कहा: "नाभि के लिए जो संतान की आशीर्वाद की प्रार्थना आपने की है, वह अत्यंत कठिन है। क्योंकि मैं ही एकमात्र हूं, मुझसे कोई अन्य समान नहीं हो सकता। लेकिन आपके शब्द झूठे नहीं हो सकते इसलिए, मैं स्वयं को एक अंशकला के रूप में नाभि के घर में प्रकट होऊँगा।"

इसके पश्चात भगवान विष्णु ने मेरुदेवी के गर्भ से अवतार लिया। नाभिनन्दनके अंग जन्मसे ही भगवान् विष्णुके वज्र-अंकुश आदि चिह्नोंसे युक्त थे; समता, शान्ति, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियोंके कारण उनका प्रभाव दिनोंदिन बढ़ता जाता था। यह देखकर मन्त्री आदि प्रकृतिवर्ग, प्रजा, ब्राह्मण और देवताओंकी यह उत्कट अभिलाषा होने लगी कि ये ही पृथ्वीका

शासन करें। उनके सुन्दर और सुडौल शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता आदि गुणोंके कारण महाराज नाभिने उनका नाम '**ऋषभ**' (श्रेष्ठ) रखा। एक बार भगवान् इन्द्रने ईर्ष्यावश उनके राज्यमें वर्षा नहीं की। तब योगेश्वर भगवान् ऋषभने इन्द्रकी मूर्खतापर हँसते हुए अपनी योग-मायाके प्रभावसे अपने वर्ष अजनाभ खण्डमें खूब जल बरसाया।

अपनी इच्छा के अनुसार एक उत्तम पुत्र प्राप्त करने के कारण, महाराज नाभि सदा आनंद में डूबे रहते थे और अपने पुत्र के प्रति अत्यधिक स्नेह रखते थे। महाराज नाभि ने समझा कि उनका पुत्र ऋषभदेव नागरिकों और सरकारी अधिकारियों तथा मंत्रियों में अत्यधिक लोकप्रिय था। अपने पुत्र की लोकप्रियता को समझते हुए, महाराज नाभि ने उसे विश्व का सम्राट नियुक्त किया ताकि वह वेदों के अनुसार प्रजा की रक्षा कर सके। फिर महाराज नाभि और उनकी पत्नी मेरुदेवी हिमालय पर्वत स्थित बदरिकाश्रम गए और तपस्या और कठोर साधना की। पूर्ण समाधि में उन्होंने भगवान नारायण की भक्ति की। इस प्रकार समय के साथ महाराज नाभि को वैकुण्ठ लोक की प्राप्ति हुई।

भगवान ऋषभदेव का चरित

महाराज नाभि के बदरिकाश्रम जाने के बाद, भगवान ऋषभदेव ने समझा कि उनका राज्य ही उनका कार्यक्षेत्र है। इसलिए उन्होंने स्वयं को एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया और गृहस्थ जीवन के कर्तव्यों को सिखाया। जब उनकी शिक्षा पूरी हो गई, तो उन्होंने अपने गुरु को गुरु दक्षिणा दी और फिर गृहस्थ जीवन को स्वीकार किया। उनकी पत्नी का नाम जयन्ती था, और उनके एक सौ पुत्र हुए, जो स्वयं भगवान के समान बलशाली और योग्य थे। उनके एक सौ पुत्रों में सबसे बड़े, **भरत**, एक महान, उत्कृष्ट भक्त थे। उनके सम्मान में इस पृथ्वी को भारतवर्ष कहा जाता है। ऋषभदेव के अन्य 99 पुत्र थे। इनमें से नौ पुत्र थे: कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतू, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक, विदर्भ और कीकट। इसके अलावा कावि, हवि, अंतरिक्ष, प्रभुद्ध, पिप्पलायन, आविरोत्र, द्रुमिला, चमसा और करभाजन थे, जो सभी उच्चकोटि के भक्त और श्रीमद्भागवतम के प्रमाणित प्रचारक थे।

भगवान् ऋषभदेव स्वभाव से पूर्ण रूप से स्वतंत्र और परम सुखस्वरूप थे। वे शांत, सम, स्नेही और करुणामय रहते हुए गृहस्थ जीवन में धर्म, अर्थ, यश, सन्तान, भोग और मोक्ष के साथ-साथ लोगों को सही मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते थे। महापुरुषों के जैसे आचरण करने पर, लोग भी उसी तरह का अनुसरण करते हैं। भगवान ऋषभदेव ने वेद के गूढ़ रहस्यों को जानने के बावजूद, ब्राह्मणों के निर्देशों के अनुसार जनसाधारण का पालन किया। उन्होंने शास्त्रों और ब्राह्मणों के

उपदेशों के अनुसार विभिन्न देवताओं के लिए अनेक प्रकार के यज्ञ किए, जिनमें सही सामग्री, समय, स्थान, आयु, श्रद्धा और पंडितों द्वारा सम्पन्न किए गए।

भगवान् ऋषभदेवके शासनकालमें इस देशका कोई भी पुरुष अपने लिये किसीसे भी अपने प्रभुके प्रति दिन-दिन बढ़नेवाले अनुरागके सिवा और किसी वस्तुकी कभी इच्छा नहीं करता था। यही नहीं, आकाश कुसुमादि अविद्यमान वस्तुकी भाँति कोई किसीकी वस्तुकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करता था।

भगवान् ऋषभदेव द्वारा पुत्रों को उपदेश

एक बार भगवान् ऋषभदेव घूमते-घूमते ब्रह्मावर्त देशमें पहुँचे। वहाँ बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियोंकी सभा में उन्होंने प्रजाके सामने ही अपने समाहित चित्त तथा विनय और प्रेमके भारसे सुसंयत पुत्रोंको शिक्षा देनेके लिये इस प्रकार कहा:

- भगवान् ऋषभदेवजी ने कहा कि मनुष्य शरीर केवल दुःखमय विषयभोग के लिए नहीं है; यह शरीर तो तप, आत्मशुद्धि और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए होना चाहिए।
- शास्त्रों के अनुसार, महापुरुषों की सेवा मुक्ति का मार्ग है, जबकि स्त्रीसंगी और कामियों के संग नरक का मार्ग है। महापुरुष वे होते हैं जो सम, शान्त, क्रोधहीन और सबके हितचिन्तक होते हैं।
- जो लोग विषयों की चर्चा करते हैं और शरीर के निर्वाह के लिए कर्म करते हैं, वे सच्चे पुरुषार्थ की ओर नहीं बढ़ते।
- यदि मनुष्य को आत्मतत्त्व की जिज्ञासा नहीं होती, तो उसका स्वरूप अज्ञान से ढका रहता है और वह कर्मों के बन्धन में फंसा रहता है।
- जब तक मनुष्य को भगवान में प्रेम नहीं होता, तब तक वह देहबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता।
- मनुष्य को विवेक की दृष्टि से इन्द्रियों के कार्यों को समझकर आत्मस्वरूप की स्मृति बनाए रखनी चाहिए, अन्यथा वह लौकिक और वैदिक कर्मों में फंसा रहता है।
- स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य संबंध को पण्डितजन हृदय की एक स्थूल ग्रन्थि मानते हैं, जिससे 'मैं' और 'मेरे' का मोह पैदा होता है।
- जब यह हृदय की ग्रन्थि ढीली हो जाती है, तो मनुष्य दाम्पत्य भाव से मुक्त होकर परमपद प्राप्त करता है।
- मनुष्य को कर्तव्य कर्मों में सावधान रहना चाहिए और शरीर, इन्द्रियों, मन, वाणी का संयम रखकर, शास्त्रों और सत्पुरुषों के वचनों का पालन करना चाहिए।

- जो मनुष्य अपने प्रिय संबंधियों को भगवद्भक्ति का उपदेश देता है, वह सच्चा गुरु, पिता, माता और इष्टदेव होता है।
- भगवान ऋषभदेव ने कहा कि शुद्ध सत्त्व ही उनका हृदय है, और यह सत्य उनके मार्गदर्शन का आधार है।
- प्रत्येक जीव को, चाहे वह किस भी अवस्था में हो, भगवान की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि यही सच्ची पूजा है और यही मोक्ष का मार्ग है।
- भगवान ने बताया कि उनके अकिंचन भक्त सच्चे रूप में निःस्वार्थ होते हैं और वे कभी भी भौतिक इच्छाएँ नहीं रखते, केवल उनके भक्तिमार्ग को अपनाते हैं।
- भगवान का सच्चा पूजन मन, वचन और इन्द्रियों के द्वारा करना है, यही मानव के जीवन का अंतिम उद्देश्य है।

भगवान ऋषभदेव के लक्षण (5.4)

https://iskcondesiretree.com/profiles/blogs/5-4

Posted by **Jagannath Mishra Das (Jagdish Chouhan)** on January 10, 2021 at 8:50am

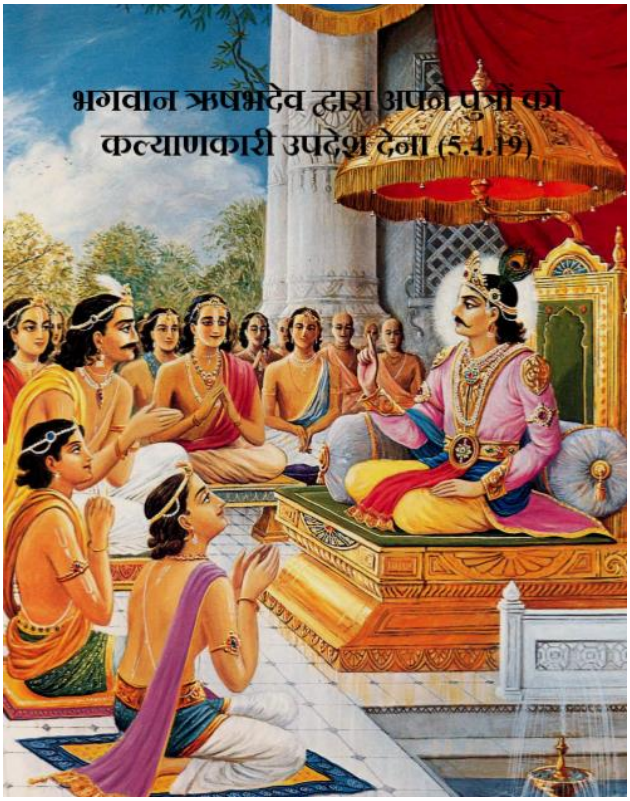

अध्याय चार – भगवान ऋषभदेव के लक्षण (5.4)

1 ***श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा:*** **जन्म से ही महाराज नाभि के पुत्र में भगवान के लक्षण प्रकट थे, यथा चरणतल के चिन्ह (ध्वज, वज्र इत्यादि)। यह पुत्र सबों के साथ समभाव रखनेवाला और अत्यन्त शान्त स्वभाव का था। यह अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में कर सकता था और परम ऐश्वर्यवान होने के कारण उसे भौतिक सुख की लिप्सा नहीं थी। इन समस्त गुणों से सम्पन्न होने के कारण महाराज नाभि का पुत्र दिनों-दिन शक्तिशाली बनता गया। फलतः समस्त नागरिकों, विद्वान ब्राह्मणों देवताओं तथा मंत्रियों ने चाहा कि ऋषभदेव पृथ्वी के शासक बनें।**

2 जब महाराज नाभि का पुत्र प्रकट हुआ, तो उसमें महाकवियों द्वारा वर्णित समस्त उत्तम गुण दिखाई पड़े यथा ईश्वर के लक्षणों से युक्त सुगठित शरीर, शौर्य, बल, सुन्दरता, नाम, यश, प्रभाव तथा उत्साह। जब उसके पिता महाराज नाभि ने इन समस्त गुणों को देखा, तो उसे मनुष्यों में श्रेष्ठतम अथवा सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति मानकर उसका नाम ऋषभ रख दिया।

3 भौतिक रूप से महान ऐश्वर्यशाली स्वर्ग का राजा इन्द्र राजा ऋषभदेव से ईर्ष्या करने लगा। अतः उसने भारतवर्ष नामक लोक पर जल बरसाना बन्द कर दिया। उस समय समस्त योगों के स्वामी भगवान ऋषभदेव इन्द्र का प्रयोजन समझ गये और थोड़ा मुस्काये। तब उन्होंने अपने शौर्य तथा योगमाया से अजनाभ नाम से विख्यात अपने देश में अत्यधिक वर्षा की।

4 अपनी इच्छानुसार श्रेष्ठ पुत्र पाकर राजा नाभि दिव्य आनन्द के कारण विह्वल और पुत्र के प्रति अत्यन्त वत्सल हो उठे। उन्होंने गदगद वाणी से उसे "मेरे प्रिय पुत्र! मेरे प्यारे!" शब्दों से सम्बोधित किया। ऐसी बुद्धि योगमाया से उत्पन्न हुई जिसके कारण उन्होंने परम पिता भगवान को अपने पुत्र रूप में स्वीकार किया। ईश्वर भी अपनी परमेच्छा के कारण उनके पुत्र बने और सबों के साथ ऐसा व्यवहार किया जैसे वे कोई सामान्य मनुष्य हो। इस प्रकार वे अपने दिव्य पुत्र का बड़े ही लाड़-प्यार से लालन-पालन करने लगे और वे दिव्य आनन्द, हर्ष तथा भक्ति से भावविभोर हो गये।

5 राजा नाभि ने समझ लिया था कि उनका पुत्र ऋषभदेव नागरिकों, प्रशासकों तथा मंत्रियों में अत्यन्त लोकप्रिय है। अतः उन्होंने वैदिक धर्म-पद्धति अनुसार जनता की रक्षा के उद्देश्य से अपने पुत्र को संसार के सम्राट के रूप में अभिषिक्त कर दिया और उसे विद्वान ब्राह्मणों के हाथों में सौंप दिया जो शासन चलाने में उसका मार्गदर्शन कर सकें। फिर महाराज नाभि अपनी पत्नी मेरुदेवी के साथ हिमालय पर्वत स्थित बद्रीकाश्रम में गये और वहाँ पर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक एवं निपुणता के साथ तपस्या में लग गये। पूर्ण समाधि में उन्होंने कृष्ण के ही अंश रूप भगवान नर-नारायण की उपासना की, अतः कालक्रम में महाराज नाभि को वैकुण्ठ प्राप्त हुआ।

6 हे महाराज परीक्षित, महाराज नाभि के यशोगान में प्राचीन मुनियों ने दो श्लोक रचे। उनमें से एक यह है "महाराज नाभि जैसी सिद्धि अन्य कौन प्राप्त कर सकता है? उनके कर्मों तक कौन पहुँच सकता है? जिनकी भक्ति के कारण भगवान ने उनका पुत्र बनना स्वीकार किया।"

7 [दूसरी स्तुति इस प्रकार है]" महाराज नाभि से बढ़कर ब्राह्मणों का उपासक (भक्त) कौन हो सकता है? चूँकि राजा ने योग्य ब्राह्मणों को पूजा से पूर्णतया संतुष्ट कर दिया था। इसलिए अपने ब्रह्म-तेज से उन्होंने महाराज नाभि को भगवान नारायण का साक्षात दर्शन करा दिया।

8 "महाराज नाभि के बदरिकाश्रम प्रस्थान के पश्चात परम ईश ऋषभदेव ने अपने राज्य को ही अपना कर्मक्षेत्र समझा। अतः उन्होंने सर्वप्रथम गुरुओं के निर्देश में ब्रह्मचर्य स्वीकार करके अपना

दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए गृहस्थ के कर्तव्यों की शिक्षा दी। वे गुरुकुल में वास करने भी गये। शिक्षा पूरी होने पर उन्होंने गुरु-दक्षिणा दी और तब गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए। उन्होंने जयन्ती नामक पत्नी ग्रहण की और उससे एक सौ पुत्र उत्पन्न किये जो उनके ही समान बलवान तथा योग्य थे। उनकी पत्नी जयन्ती स्वर्ग के राजा इन्द्र द्वारा उन्हें भेंट में दी गई थी। ऋषभदेव तथा जयन्ती ने श्रुति तथा स्मृति शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट अनुष्ठानों का पालन करते हुए गृहस्थ जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया।

9 ऋषभदेव के सौ पुत्रों में से सबसे बड़े पुत्र का नाम भरत था, जो श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न महान भक्त था। उसी के सम्मान में इस लोक को भारतवर्ष कहते हैं।

10 भरत के अतिरिक्त उनके निन्यानवे पुत्र और भी थे। इनमें से नौ बड़े पुत्रों के नाम कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक, विदर्भ तथा कीकट थे।

11-12 इन पुत्रों के अतिरिक्त कवि, हवि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्लायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन भी हुए। ये सभी परम भक्त एवं श्रीमदभागवत के प्रामाणिक उपदेशक थे। ये भक्त भगवान वासुदेव के प्रति अपनी उत्कट भक्ति के कारण महिमा-मण्डित थे। मन की पूर्ण तुष्टि के लिए मैं (शुकदेव गोस्वामी) इन नौ भक्तों के चरित्रों का वर्णन आगे चलकर नारद-वसुदेव संवाद प्रसंग के अन्तर्गत करूँगा।

13 उपर्युक्त उन्नीस पुत्रों के अतिरिक्त ऋषभदेव तथा जयन्ती के इक्यासी पुत्र और थे। ये अपने पिता की आज्ञानुसार अति सुसंस्कृत, शालीन, उज्ज्वल कर्मों वाले तथा वैदिक ज्ञान तथा अनुष्ठानिक कार्यों में निपुण हुए। इस प्रकार ये सभी पूर्ण रूप से योग्य ब्राह्मण बन गये।

14 पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान के अवतार होने से भगवान ऋषभदेव पूर्ण स्वतंत्र थे क्योंकि उनका यह स्वरूप शाश्वत तथा दिव्य आनन्दमय था। उन्हें भौतिक तापों के चार नियमों (जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि) से कोई सरोकार न था, न ही वे भौतिक दृष्टि से आसक्त थे। वे समानदर्शी थे। अन्यों को दुखी देखकर दुखी होते थे। वे समस्त जीवात्माओं के शुभचिन्तक थे। यद्यपि वे महान पुरुष परमेश्वर तथा सर्व-नियन्ता थे, तो भी वे ऐसा आचरण कर रहे थे, मानो कोई सामान्य बद्धजीव हो। अतः उन्होंने दृढ़तापूर्वक वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए तदनुसार कर्म किया। कालान्तर में वर्णाश्रम धर्म के नियम उपेक्षित हो चुके थे, फलतः अपने निजी गुणों तथा आचरण से उन्होंने अज्ञानी जनता को वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत कर्तव्य करना सिखाया। इस प्रकार उन्होंने सामान्य लोगों को गृहस्थाश्रम में प्रशिक्षित किया जिससे वे धार्मिक तथा आर्थिक उन्नति कर सकें और यश, सन्तान, आनन्द तथा अन्त में शाश्वत जीवन प्राप्त कर सकें। अपने उपदेशों से उन्होंने लोगों को गृहस्थाश्रम में रहते हुए वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करते हुए परिपूर्ण बनने की शिक्षा दी।

15 महापुरुष जैसा जैसा आचरण करते हैं, सामान्यजन उसी का अनुकरण करते हैं।

16 यद्यपि भगवान ऋषभदेव समस्त गुह्य वैदिक ज्ञान से परिचित थे, जिसमें सभी करणीय कर्मों से सम्बन्धित जानकारी सम्मिलित हैं, तो भी वे अपने को क्षत्रिय मान कर ब्राह्मणों के उन उपदेशों का अनुकरण करते थे, जिनका सम्बन्ध साम (मन पर नियंत्रण), दम (इन्द्रियों पर नियंत्रण), तितिक्षा (सहनशीलता) इत्यादि से था। इस प्रकार उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म पद्धति से जनता पर शासन किया। इसके अनुसार ब्राह्मण क्षत्रियों को शिक्षा देता है और क्षत्रिय वैश्यों तथा शूद्रों के माध्यम से राज्य चलाता है।

17 भगवान ऋषभदेव ने शास्त्रों के अनुसार सभी यज्ञों को सौ सौ बार सम्पन्न किया और इस प्रकार से भगवान विष्णु को सभी प्रकार से तुष्ट किया। सभी अनुष्ठान उत्तम कोटि की सामग्री से तथा उचित समय में और पवित्र स्थानों पर युवा तथा श्रद्धालु पुरोहितों द्वारा सम्पन्न हुए। इस प्रकार भगवान विष्णु की पूजा की गई और समस्त देवताओं को प्रसाद वितरित किया गया। सारे अनुष्ठान तथा उत्सव सफल हुए ।

18 कोई भी व्यक्ति 'आकाश-कुसुम' जैसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता क्योंकि उसे पता रहता है कि ऐसी वस्तुएँ विद्यमान नहीं हैं। जब भगवान ऋषभदेव इस भारतवर्ष-भूमि में राज्य कर रहे थे तो सामान्य जनता को भी किसी समय या किसी प्रकार से किसी वस्तु की इच्छा नहीं रह गई थी। कोई भी 'आकाश-कुसुम' नहीं चाहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सभी लोग पूर्णतया संतुष्ट थे, अतः किसी को किसी भी प्रकार की वस्तु माँगने की आवश्यकता नहीं थी। सभी लोग राजा के अतीव स्नेह में मग्न थे। चूँकि यह स्नेह निरन्तर बढ़ता गया इसलिए वे किसी भी वस्तु की याचना करने के इच्छुक नहीं थे।

19 एक बार भगवान ऋषभदेव घूमते-घूमते ब्रह्मावर्त नामक देश में पहुँचे। वहाँ पर विद्वान ब्राह्मणों की एक बड़ी सभा हो रही थी और राजा के सभी पुत्र बड़े ही मनोयोग से ब्राह्मणों का उपदेश सुन रहे थे। उस सभा में, समस्त नागरिकों के समक्ष ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को शिक्षा दी, यद्यपि वे पहले से ही अच्छे आचरण वाले, भक्त और योग्य थे। उन्होंने इसलिए शिक्षा दी, जिससे वे भविष्य में अच्छी तरह संसार का शासन चला सकें। वे इस प्रकार बोले।

(समर्पित एवं सेवारत - जगदीश चन्द्र चौहान)

---

1. आत्मरक्षा और समाज की सुरक्षा का ज्ञान (google AI review)

भगवान ऋषभदेवजैन धर्म के प्रथम तीर्थंकरने आत्मरक्षा और समाज की सुरक्षा के लिए आत्म-अनुशासनअहिंसा और शारीरिक शक्ति के संतुलन का ज्ञान दिया। उन्होंने आत्मनिर्भरता के लिए कृषिशिल्पऔर कला के साथ-साथ शरीर को मजबूत बनाने (Self-Defense) की शिक्षा दी और समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए 'दंड नीति' (Criminal Justice System) की नींव रखी।

ऋषभदेव के अनुसार आत्मरक्षा और सामाजिक सुरक्षा के प्रमुख सिद्धांत:

- **आत्मरक्षा (Self-Defense):** उन्होंने आत्मरक्षा के लिए शरीर को मजबूत बनाने पर जोर दियालेकिन यह शक्ति 'अहिंसा' के दायरे में होनी चाहिए। हथियारों का उपयोग केवल आत्म-संरक्षण के लिए किया जाना चाहिएन कि किसी को नुकसान पहुंचाने या जीतने के लिए (अकर्मक रक्षा)।

सामाजिक सुरक्षा और सुव्यवस्था: समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए उन्होंने पहली बार 'दंड संहिता' (criminal code) की प्रणाली शुरू कीजो गलत कार्य करने वालों को रोकने के लिए थी। ऋषभदेव (आदिनाथ) द्वारा प्रतिपादित 'हा मा धिक्' दण्डनीति एक अहिंसक और नैतिक शासन व्यवस्था थीजो शारीरिक दंड के स्थान पर अपराधी की चेतना को जगाने के लिए **'हा' (दुःख/चेतावनी)'मा' (अनैतिकता के लिए मनाही/रोक)और 'धिक्' (निंदा/धिक्कार)** के प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग करती थी। इस दण्डनीति की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं:

1. **उद्देश्य:** इसका उद्देश्य अपराधी को शारीरिक यातना देने के बजायउसे आत्मग्लानि के माध्यम से अपराध से दूर करना और धर्म/नैतिकता के मार्ग पर लाना था।
2. **प्रक्रिया:** जब कोई व्यक्ति अपराध या अनैतिक कार्य करतातो राजा या प्रशासन उसे केवल ये शब्द कहकर उसके दुष्कर्म पर धिक्कार प्रकट करता था।
3. **नैतिक प्रभाव:** यह दण्डनीति समाज में 'लज्जा' और 'नैतिक चेतना' को सबसे बड़ा दंड मानती थीताकि भविष्य में वह ऐसा न करे।
4. **पृष्ठभूमि:** यह व्यवस्था ऋषभदेव द्वारा स्थापित की गई थीजो कृषिअसिमसिवाणिज्यशिल्प और विद्या की षट विद्याओं के साथ ही समाज में शांति स्थापना के लिए लाई गई थी।

2. लिपि का ज्ञान, संचार और अभिलेख

भगवान ऋषभदेव (आदिनाथ) जैन परंपरा के प्रथम तीर्थंकर हैंजिन्होंने मानव सभ्यता को व्यवस्थित किया और 72 कलाओं का ज्ञान दियाजिसमें **ब्राह्मी लिपि** (अक्षर ज्ञान) और **अंक विद्या** प्रमुख हैं। उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को 'अआ' जैसी वर्णमाला (लिपि) और सुंदरी को '1, 2, 3' जैसे अंक सिखाए। ब्राह्मी लिपि का नाम उनकी पुत्री के नाम पर ही पड़ा है। भगवान ऋषभदेव को आदिपुरुष माना जाता हैजिन्होंने मनुष्यों को लेखन (मसि)कृषिऔर शिल्प जैसी विद्याएं सिखाईं। उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को सुवर्ण पट्ट पर 'सिद्धं नमः' लिखकर अक्षर ज्ञान दिया जो बाद में 'ब्राह्मी लिपि' के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह माना जाता है कि आज की कई भारतीय लिपियों का विकास इस प्राचीन ब्राह्मी लिपि से ही हुआ है।

3. कृषि (खेती एवं पशुपालन) – आत्मनिर्भर समाज की नींव

ऋषभदेव के पूर्व मानव वनों में रहता था एवं भोजन के लिए **फल-फूल आदि पर निर्भर था।** उन्होंने **पहली बार कृषि (खेती करने की विधि) सिखाई,** जिससे मानव भोजन के लिए आत्मनिर्भर हो सके। उन्होंने सिखाया कि कौन-से बीज बोने चाहिए, किस ऋतु में क्या उगता है, एवं सिंचाई कैसे करनी चाहिए। इसके साथ ही उन्होंने **गौ-पालन एवं पशुपालन** की परंपरा भी स्थापित की। कृषि एवं

पशुपालन ने ही प्राथमिक रूप से वाणिज्य की प्रक्रिया प्रारम्भ करने में योगदान दिया. जैन धर्म, जो भारत की सबसे प्राचीन धार्मिक परंपराओं में से एक है, मूलरूप **अहिंसा** (अहिंसा), **अपरिग्रह** (अपरिग्रह) और **तप** (तपस्या) के सिद्धांतों पर आधारित है। इस संदर्भ में, कृषि का कार्य एक जटिल और सूक्ष्म स्थान रखता है। एक ओर, जैन धर्म सभी जीवित प्राणियों के प्रति करुणा का उपदेश देता है, चाहे वे सबसे छोटे कीट हों या जीवन के सबसे विकसित रूप। दूसरी ओर, कृषि - मिट्टी जोतने और भोजन उत्पादन करने की प्रक्रिया - अनिवार्य रूप से अनगिनत सूक्ष्म जीवों को हानि पहुँचाती है।

इस प्रकार, एक केंद्रीय नैतिक प्रश्न उठता है: *जैन धर्म में खेती करने और अहिंसा की प्रतिज्ञा के बीच सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाए?* हालांकि कोई भी जैन भोजन के लिए पशुओं को मारना कभी नहीं चाहेगा, लेकिन वही व्यक्ति समुदाय के भरण-पोषण के लिए भूमि जोतना आवश्यक समझ सकता है। जीवनयापन और आध्यात्मिकता के बीच का यह तनाव ही जैन धर्म में कृषि के प्रति दृष्टिकोण का मूल आधार है।

जैन कथाओं के अनुसार, वर्तमान काल चक्र के प्रथम **तीर्थंकर ऋषभ को** सभ्यता के अग्रदूत के रूप में पूजा जाता है, जिन्होंने मानव जाति को जीवनयापन की विभिन्न कलाएँ सिखाईं, जिनमें कृषि भी शामिल है **।** जैसा कि पॉल डुंडास (2002: 21) ने उल्लेख किया है, ऋषभ द्वारा सिखाई गई बहत्तर कलाओं में कृषि भी शामिल थी, जिसे इन कलाओं में उनतीसवीं कला के रूप में सूचीबद्ध किया गया है। शास्त्रों में इस उत्पत्ति के बावजूद, आज बहुत कम जैन कृषि में संलग्न हैं, मुख्य रूप से महाराष्ट्र और कर्नाटक राज्यों में (डुंडास 2002, 191)। वास्तव में, अक्सर यह कहा जाता है कि "जैनों को कृषि को पेशे के रूप में अपनाने की अनुमति नहीं है" (सेन 2014), हालांकि लिखित प्रमाण इससे कहीं अधिक जटिल दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। मिश्रा (1994) के अनुसार, कई प्रारंभिक जैन ग्रंथों में कृषि के बारे में आश्चर्यजनक रूप से व्यापक स्वीकृति और विस्तार से चर्चा की गई है। उदाहरण के लिए, नौवीं शताब्दी के **महापुराण** (16:179) में कृषि को युद्ध, लेखन, कला, अध्यापन और व्यापार के साथ छह प्रमुख व्यवसायों में से एक बताया गया है। **पद्मपुराण** (2:3, 3:67) में तो प्राचीन काल में प्रयुक्त हलों को प्रतिष्ठा का प्रतीक बताया गया है - उदाहरण के लिए, सम्राट भरत के पास अपने राज्य में दस करोड़ हल होने की बात कही जाती है। इन ग्रंथों में किसानों की प्रशंसा **करषक** या **किनाश के रूप में की गई** है, उन्हें महान, सहिष्णु और अनुशासित व्यक्तियों के रूप में चित्रित किया गया है - *महापुराण* 54:12 के अनुसार, वे तपस्वियों से भी श्रेष्ठ हैं। सिंचाई की दो विधियों का वर्णन किया गया है: कृत्रिम साधन, जैसे नहरें, और प्राकृतिक साधन, जैसे वर्षा। चावल, जौ, गेहूं, सरसों, तिल, मसूर और गन्ना जैसी फसलें आमतौर पर उगाई जाती थीं।

4.

5. **भरतेश-वर्तमान प्रथम चक्रवर्ती एव शलाका-पुरुष** (from jainkosh.org)

प्रथम चक्रवर्ती भरत अवसर्पिणी काल के दु:षमा-सुषमा नामक चौथे काल में उत्पन्न हुए थे । अयोध्या के राजा वृषभदेव इनके पिता और रानी नंदा इनकी माता थी । ब्राह्मी इन्हीं के साथ युगल रूप में उत्पन्न हुई थी । इनके अठानवें भाई थे । सभी चरमशरीरी थे। इन्हें पिता से राज्य मिला था। चक्ररत्न, पुत्ररत्न, वृषभदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति ये तीन सुखद समाचार इन्हें एक साथ ही प्राप्त हुए थे। इनमें सर्वप्रथम इन्होंने वृषभदेव के केवलज्ञान की उनके एक सौ आठ नामों द्वारा स्तुति की थी । इनकी छ: प्रकार की सेना थी— हस्तिसेना, अश्वसेना, रथसेना, पदातिसेना, देवसैना और विद्याधर-सेना। इस सेना के आगे दंडरत्न और पीछे चक्ररत्न चलता था। विद्याधर नमि की बहिन सुभद्रा को विवाहने के बाद इन्होंने पूर्व,

दक्षिण और पश्चिम दिशा के देवों तथा राजाओं को जीतकर उत्तर की ओर प्रयाण किया था तथा उत्तर भारत पर विजय की थी । इस प्रकार साठ हजार वर्ष में छः खंड युक्त भरतक्षेत्र को जीतकर ये अयोध्या लौटे थे । दिग्विजय के पश्चात् सुदर्शन चक्र के अयोध्या में प्रवेश न करने पर बुद्धिसागर मंत्री से इसका कारण-भाइयों द्वारा अधीनता स्वीकार न किया जाना'' ज्ञात कर इन्होंने उनके पास दूत भेजे थे । बोधि प्राप्त होने से बाहुबली को छोड़ शेष भाइयों ने इनकी अधीनता स्वीकार न करके अपने पिता वृषभदेव से दीक्षा ले ली थी । बाहुबली ने इनके साथ दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध किये तथा तीनों में इन्हें हराया था । इन्होंने बाहुबली पर सुदर्शन चक्र भी चलाया था किंतु इससे भी वे बाहुबली को पराजित नहीं कर सके । अंत में राज्यलक्ष्मी को हेय जान उसे त्याग करके बाहुबली कैलास पर्वत पर तप करने लगे थे । बाहुबली के ऐसा करने से इन्हें संपूर्ण पृथिवी का राज्य प्राप्त हो गया था। इन्होंने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की थी । चक्र, छत्र, खड्ग, दंड, काकिणी, मणि, चर्म, सेनापति, गृहपति, हस्ति, अश्व, पुरोहित, स्थपति और स्त्री इनके ये चौदह रत्न, आठ सिद्धियाँ तथा काल, महाकाल, पांडुक भाणव, नैसर्प, सर्वरत्न, शंख, पद्म और पिंगल ये नौ इनकी निधियाँ थी । बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा और इतने ही देश इनके अधीन थे । इन्हें छियानवें हजार रानियाँ, एक करोड़ हल, तीन करोड़ कामधेनु-गायें, अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी और इतने ही रथ, अर्ककीर्ति और विवर्धन को आदि लेकर पाँच सौ चरम शरीरी तथा आज्ञाकारी पुत्र, भाजन, भोजन, शय्या, सेना, वाहन, आसन, निधि, रत्न, नगर और नाट्य ये दस प्रकार के भोग उपलब्ध थे । अवतंसिका माला, सूर्यप्रभ छत्र, सिंहवाहिनी शय्या, देवरम्या चाँदनी, अनुत्तर सिंहासन अनुपमान चमर, चिंतामणि रत्न, दिव्य रत्न, वीरांगद कड़े, विद्युत्प्रभ कुंडल, विषमोचिका खड़ाऊँ अभेद्य कवच अजितंजयरथ वज्रकांड धनुष, अमोघ वाण, वज्रतुंडा शक्ति आदि विभूतियों से ये सुशोभित थे । सोलह हजार गणबद्ध देव सदा इनकी सेवा करते थे । इनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न था । ये चौंसठ लक्षणों से युक्त समचतुरस्रसंस्थानमय देह से संपन्न थे । बहत्तर हजार नगर, छियानवे करोड़ गाँव, निन्यानवे हजार द्रोणमुख, अड़तालीस हजार पत्तन, सोलह हजार खेट, छप्पन अंतर्द्वीप, चौदह हजार संवाह इनके राज्य में थे । इनके विवर्द्धन आदि नौ सौ तेईस राजकुमारों ने वृषभदेव के समवसरण में सेयम धारण किया था । इनके साम्राज्य में ही सर्वप्रथम स्वयंवर प्रथा का शुभारंभ हुआ था । चिरकाल तक लक्ष्मी का उपभोग करने के पश्चात् अर्ककीर्ति को राज्य सौंप करके इन्होंने जिन-दीक्षा ले ली थी । केशलोच करते ही इन्हें केवलज्ञान हो गया था । इंद्रों द्वारा इनके केवलज्ञान की पूजा किये जाने के पश्चात् इन्होंने बहुत काल तक विहार किया । आयु के अंत समय में वृषभसेन आदि गणधरों के साथ कैलास पर्वत पर कर्मों का क्षय करके इन्होंने मोक्ष प्राप्त किया । इनकी आयु चौरासी लाख पूर्व की थी । इसमें इनका सतहत्तर लाख पूर्व समय कुमारकाल में, छः लाख पूर्व समय साम्राज्य में और एक लाख पूर्व समय मुनि अवस्था में व्यतीत हुआ था । इस प्रकार चौरासी लाख पूर्व आयु काल में ये सतहत्तर लाख पूर्व काल तो कुमारावस्था में तथा एक हजार वर्ष मंडलेश्वर अवस्था में, साठ हजार वर्ष दिग्विजय में, एक पूर्व कम छः लाख पूर्व चक्रवर्ती होकर राज्य शासन में, तथा एक लाख पूर्व तेरासी लाख निन्यानवें हजार नौ सौ निन्यानवें पूर्वांग और तेरासी लाख नौ हजार तीस वर्ष संयमी और केवली अवस्था में रहे । ये वृषभदेव के मुख्य श्रोता थे । ये आठवें पूर्वभव में वत्सकावती देश के अतिग्रृध्र नामक राजा, सातवें में चौथे नरक के नारकी, छठे पूर्वभव में व्याघ्र, पांचवें में दिवाकरप्रभ देव, चौथे में मतिसागर मंत्री, तीसरे में अहमिंद्र, दूसरे में सुबाहु राजपुत्र और प्रथम पूर्वभव में सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र थे । कैलास पर्वत पर इन्होंने

महारत्नों से चौबीसों अर्हंतों के मंदिरों का निर्माण कराया था । कैलास पर्वत पर ही पाँच सौ धनुष ऊँची एक वृषभदेव की प्रतिमा भी इन्होंने स्थापित करायी थी । भरतक्षेत्र का 'भारत' यह नामकरण इन्हीं के नाम पर हुआ था

बाहुबली (from jainkosh.org)

1. भगवान् वृषभदेव और उनकी सुनंदा नामा द्वितीय रानी के पुत्र तथा सुंदरी के भाई । सुंदरता से कारण ये कामदेव कहलाते थे । चरमशरीरी थे और पोदनपुर राज्य के नरेश थे । महाबली और चंद्रवंश का संस्थापक सोमयश इसका पुत्र था । *महापुराण 16.4-25, 17.77, 34.68, पद्मपुराण - 5.10* —11, *हरिवंशपुराण - 9.22*
2. स्वाभिमानी होने के कारण इन्होंने भरत की अधीनता स्वीकार न कर उन्हें जल, दृष्टि और बाहु युद्ध में पराजित किया था भरत ने कुपित होकर इन पर चक्र चलाया था, परंतु चक्र निष्प्रभावी हुआ था । राज्य के कारण अपने भाई के इस व्यवहार को देखकर इन्हें राज्य से विरक्ति हुई । अपने पुत्र महाबली को राज्य सौंपकर ये दीक्षित हो गये । इन्होंने प्रतिमायोग धारण करके एक वर्ष तक निराहार रहकर उग्र तप किया । सर्पों ने चरणों में वामियाँ बना ली, केश बढ़कर कंधों पर लटकने लगे और लताएँ इनके शरीर से लिपट गयी । तपश्चर्या के समाप्त होने पर भरत ने इनकी पूजा की और तभी इन्हें केवलज्ञान हो गया । इंद्र आदि देव आये और इनकी उन्होंने पूजा की । अंत में विहार कर ये तीर्थंकर आदिनाथ के निकट कैलास पर्वत पर गये । वहाँ शेष कर्मों का क्षय करके इन्होंने सिद्ध पद प्राप्त किया । अवसर्पिणी काल के ये प्रथम मुक्ति प्राप्त-कर्ता हैं । *महापुराण 36.51-203, पद्मपुराण - 4.77, हरिवंशपुराण - 11.98-102*
3. इनकी भवावलि इस प्रकार है—पूर्व में ये सेनापति थे, पश्चात् क्रमश: भोग-भूमि में आर्य, प्रभंकरदेव, अकंपन, अहमिंद्र, महाबाहु, पुन: अहमिंद्र और तत्पश्चात् बाहुबली हुए थे । *महापुराण 47.365-366*
4. *महापुराण/सर्ग/श्लोक* नं. अपने पूर्व भव नं. 7 में पूर्व विदेह वत्सकावती देश के राजा प्रीतिवर्धन के मंत्री थे (8/211) फिर छठे भव में उत्तरकुरु में भोग भूमिज हुए (8/212), पाँचवें भव में कनकाभदेव (8/213) चौथे भव में वज्रजंघ (आदिनाथ भगवान् का पूर्व भव) के 'आनंद' नाम पुरोहित हुए (8/217) तीसरे भव में अधोग्रैवेयक में अहमिंद्र हुए (9/90) दूसरे भव में वज्रसेन के पुत्र महाबाहु हुए (11/12) पूर्व भव में अहमिंद्र हुए (47/365-366) वर्तमान भव में ऋषभ भगवान् के पुत्र बाहुबली हुए (16/6) बड़ा होने पर पोदनपुर का राज्य प्राप्त किया (17/77) । स्वाभिमानी होने पर भरत को नमस्कार न कर उनको जल, मल्ल व दृष्टि युद्ध में हरा दिया । (36/60) भरत ने क्रुद्ध होकर इन पर चक्र चला दिया, परंतु उसका इन पर कुछ प्रभाव न हुआ (36/66) इससे विरक्त हो इन्होंने दीक्षा ले ली (36/104) । एक वर्ष का प्रतिमा योग धारण किया (36/106) एक वर्ष पश्चात् भरत ने आकर भक्तिपूर्वक इनकी पूजा की तभी इनको केवललब्धिकी प्राप्ति हो गयी (36/185) । अंत में मुक्ति प्राप्त की ।